हिन्दी-अनुशीलन

सम्पादक
रघुवंश : रामस्वरूप चतुर्वेदी
टीकमसिंह तोमर

शोध-विशेषांक

वर्ष १५ : अङ्क ३-४
जुलाई-सितम्बर, अक्टूबर-दिसंबर, १९६२ ई०

Scanned with CamScanner

नन्ददुलारे वाजपेयी

शोध और समीक्षा

शोध और समीक्षा दो पृथक् शब्द हैं। दोनों के अर्थों में भिन्नता है। शोध के लिए अनुसंधान और अनुशीलन आदि शब्द प्रचलित हैं। समीक्षा के लिए आलोचना, समालोचना शब्द प्रयोग में लाये जाते हैं। शोध शब्द में किसी अज्ञात तथ्य को प्रकाश में लाने और प्रतिष्ठित करने का आशय निहित है। शोध में बिखरे हुए तथ्यों का संयोजन और समाहार भी किया जाता है। शोध के लिए उस समस्त सामग्री का संचय और संग्रह आवश्यक है जो उस वस्तु या विषय से सम्बंधित है। इस समस्त संग्रह को सुव्यवस्थित रूप में सजाकर उसके आधार पर वस्तुमूलक स्थापनायें की जाती हैं और निर्णय दिये जाते हैं। शोध में विषय से संबंधित पूर्ववर्ती वक्तव्य भी दिये जाते हैं तथा उनके आधार पर नया अभिमत व्यक्त किया जाता है। शोध में तर्क-सम्मत प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है और तभी किसी नये निष्कर्ष का उपन्यास किया जा सकता है। फिर उस निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये बिरोधी अभिमतों का खण्डन और निराकरण कर नये निर्णय की प्रतिष्ठा की जाती है। यह नया निर्णय जब एक स्वतन्त्र विचार-सरणी के रूप में उपस्थित होता है, तब उसे 'थीसिस' या प्रबन्ध कहते हैं।

समीक्षा या अलोचना में किसी अज्ञात या अनुपलब्ध वस्तु की खोज की आवश्यकता नहीं होती। वह एक सुस्पष्ट और प्रायः सुप्रसिद्ध कृति के संबंध में दिया हुआ वैचारिक अभिमत होता है। समीक्षा में समीक्षक की अपनी दृष्टि और विचार प्रमुख रूप से आते हैं और उसमें समीक्षक की अपनी धारणाओं का प्राधान्य होता है। किसी कृति-विशेष के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित विचार ही समीक्षा है। उन विचारों के आधार पर कभी किसी सिद्धांत का भी निरूपण और संस्थापन हो सकता है। नयी समीक्षा-दृष्टि या शैली का विन्यास होता है। परन्तु इस प्रकार के विन्यास में लेखक की अपनी अभिरुचियां और संस्कार ही अधिक मात्रा में रहते हैं। इसीलिए समीक्षा अधिक व्यक्तिपरक वस्तु होती है, जबकि शोध में व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता।

शोध के आधार पर जिन तथ्यों और निर्णयों की स्थापना होती है वे जन-समाज और उसकी क्रमागत ज्ञान-भूमिका के लिए नये होते हैं। उनसे किसी का पूर्व परिचय नहीं हुआ रहता। पर समीक्षा के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। समीक्षा जिस कृति या वस्तु की की जाती है, उसे अध्येता-समाज पहले से ही जानता रहता है। उसके संबंध में उसका अपना मत तो रहता ही है, अन्य अनेक समीक्षकों के अभिमत भी रह सकते हैं। अतएव उस समीक्षा-विशेष से उस अध्येता-समुदाय को एक नयी दृष्टि का परिचय मिल सकता है, किसी नवीन ज्ञान का नहीं। समीक्षा जन-समाज में प्रचलित अभिज्ञता का परिष्कार करती है तथा समीक्षक-विशेष की विचार दृष्टि से उन्हें परिचित कराती है। वह एक प्रकार की निरन्तर ज्ञान और बोध-परिष्कारक प्रक्रिया है और उसका उपयोग सामाजिक जीवन में फैली हुई धारणाओं के ऊहापोह में किया जाता है। समीक्षा या आलोचना सामाजिक जीवन की बौद्धिक और कलात्मक अभिरुचियों का नित्य नया अध्याय कही जा सकती हैं। परन्तु शोध से निःसृत तथ्य और निष्कर्ष एक अभिनव विचार-धारा का निर्माण करते हैं और नये ज्ञान की सृष्टि में सहायक होते हैं। इस

Scanned with CamScanner

प्रकार हम कह सकते हैं कि शोध का सम्बन्ध नये तथ्य और सत्य के उद्‌घाटन से है, जबकि समीक्षा का सम्बन्ध प्रचलित धारणाओं और विचारों के उपबृंहण और विकास से है।

जब हम साहित्यिक शोध और साहित्यिक समीक्षा की चर्चा करते हैं, तब यह देखते हैं कि शोध का लक्ष्य सत्योन्मुखी और आविष्कार-मूलक है तथा वह अधिक इतिवृत्तात्मक वस्तु है। जबकि समीक्षा का लक्ष्य हमारी सांस्कृतिक और कलात्मक चेतना को व्यवस्था और विस्तार देने तथा समसामयिक साहित्यिक दृष्टिकोण के सुनियोजन में है। अतएव वह अधिक लोकाभिमुख, व्यावहारिक और विनिमेय वस्तु है। समीक्षा में व्यक्तिपरकता के लिए–समीक्षक की वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के लिए–अधिक अवसर रहता है, जबकि शोध में इस प्रकार का अवसर कम-से-कम रहा करता है। समीक्षा साहित्य के अधिक समीप है, जबकि शोध ज्ञान के अधिक समीप है। इसी-लिए समीक्षा की अनेक शैलियाँ और प्रकार हुआ करते हैं, जबकि शोध में शैलियों के निर्माण की गुंजाइश नहीं होती। आलोचना या समीक्षा समाज के सार्वजनिक जीवन में अधिक सक्रिय, अधिक लोकप्रिय और अधिक प्रेरणाप्रद होकर युगीन जीवन में क्रियाशील होती है, जबकि शोध प्रायः विशिष्टजनों का ध्यान ही आकृष्ट करता है और पुस्तकालयों में ऐसी निधि के रूप में सुरक्षित रहता है, जिसका उपयोग विशिष्ट पंडित-मंडली के लिए ही करणीय होता है। सामान्य रूप से हम देखते हैं कि समीक्षा की पुस्तकें शोध-ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक पढ़ी जाती हैं और दैनिक चर्चा का विषय बनती हैं। समीक्षा या आलोचना तात्कालिक प्रभाव में शोध की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त पदार्थ है, परन्तु शोध का परिणाम अधिक मौलिक और स्थायी हुआ करता है।

शोध और समीक्षा के स्वरूप, उसकी प्रक्रिया और लक्ष्यों के इस संक्षिप्त निर्देश के पश्चात् हम इन दोनों की स्वतन्त्र परम्परा का अवलोकन कर सकते हैं। साहित्य-समीक्षा की लम्बी पर-म्परा भारतीय और पश्चिमी देशों में पाई जाती है। सामान्यतः इसके सैद्धान्तिक और प्रायो-गिक दो भेद प्राप्त होते हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा काव्य-शास्त्रों में उपलब्ध होती है, जबकि प्रायो-गिक समीक्षा अनेकानेक निबन्ध-पुस्तकों, समीक्षा-ग्रन्थों और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में विकीर्ण रहती है। शास्त्र में निहित साहित्यिक सिद्धांतों में यद्यपि एक समग्र और संपूर्ण साहित्यादर्श रहता है, परन्तु इस साहित्यादर्श के निरूपण को शोध-कार्य मानने की परिपाटी प्रचलित नहीं है। वह भी मूलतः समीक्षा ही समझी जाती है, यद्यपि उसमें स्वतन्त्र और समग्र विचार-संयोजन की भूमिका रहती है, जो शोध के अधिक समीप है। इस प्रकार पश्चिम में भी समीक्षा-सिद्धान्तों की परम्परा है, जिसे शोध नहीं कहा जाता। उदाहरण के लिए वर्तमान युग में क्रोचे या काडवेल के सैद्धान्तिक निरूपणों को लें, तो उनके मूल में एक स्वतन्त्र 'थीसिस' की संस्थिति पाई जाती है। परन्तु फिर भी उन्हें शोध-ग्रन्थ नहीं कहा जाता। इससे यह अनुमित होता है कि 'थीसिस' या स्वतन्त्र सिद्धान्त-निरूपण भी दो प्रकार के हो सकते हैं। एक शोधपरक और दूसरे समीक्षात्मक। शोधपरक थीसिस में उपलब्ध वस्तुओं के वस्तुमूलक विवेचन के आधार पर कोई निर्णय या निष्कर्ष दिया जाता है, जबकि समीक्षात्मक थीसिस की उपस्थापना में समीक्षक अपनी प्रातिभ शक्ति का अधिक विशिष्ट उपयोग करता है। इसी प्रकार प्रायोगिक समीक्षा के आधार पर निर्मित होने वाले समग्र ग्रंथ भी शोधात्मक कार्य नहीं माने जाते। उदाहरण के लिये अंग्रेजी में ब्रेडले का "शेक्सपीरियन ट्रेजेडी"

Scanned with CamScanner

अथवा हिन्दी में आचार्य शुक्ल के तुलसी, जायसी और सूर संबंधी प्रबंध समीक्षा ग्रंथों में ही परिगणित होते हैं, यद्यपि उनमें वैचारिक समग्रता का अत्यन्त विशद स्वरूप दिखाई देता है। इससे यह सूचित होता है कि साहित्य के क्षेत्र में अधिकांश वैचारिक विवेचन और स्थापनाएँ समीक्षा की सीमा में ही परिगणित होती हैं। उन्हें शोध का अभिधान नहीं दिया जाता। विशुद्ध शोधकार्य की सीमा में ऐसे प्रंब परिगणित होते हैं, जो प्रायः अज्ञात और असंयोजित वस्तुओं का संयोजन कर उनके संबंध में एकदम नवीन तथ्यों और निर्णयों को प्रस्तुत करते हैं। अनेक बार ऐसे शोध-प्रंब साहित्यिक विवेचन की सीमा को नांघकर दार्शनिक स्तर पर पहुंच जाते हैं और इस प्रकार वे साहित्य की वस्तु न रहकर दर्शन की वस्तु बन जाते हैं। पश्चिम में साहित्यिक विवेचन को सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका पर ले जाने वाले ग्रंथों को शोध के अधिक समीप समझा जाता है। हिंदी साहित्य में भी अनेक बार शोध-प्रंबु वे माने जाते हैं, जो साहित्यिक विवेचन से दूर रहकर साहित्य की ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमियों से अपना नाता जोड़ते हैं, अथवा इन पृष्ठभूमियों पर साहित्य के परिचित और अपरिचित, ज्ञात और अज्ञात लेखकों की परिगणना कराते हैं। कृतियों की रचना-तिथियों के निर्देश में अधिक दिलचस्पी रखते हैं अथवा बहुत कुछ यांत्रिक पद्धति से साहित्यिक कृतियों की मोटी विशेषताओं का वर्गीकरण और विभाजन करते हैं।

शोध और समीक्षा की ऊपर निर्देश की गई परंपरा से दोनों सरणियों की पृथक्ता का आभास मिलता है, परंतु केवल इतने आधार पर हम शोध और समीक्षा को दो दूरवर्ती और निर-पेक्ष वस्तुएं नहीं मान सकते। पहले तो हमें यही देखना होगा कि शोध और समीक्षा के विभेद संबंधी जो सूत्र परंपरा से स्वीकृत हैं, उनमें यथार्थता और औचित्य कितना है। फिर हमें यह भी देखना होगा कि शोध और समीक्षा, दो पृथक् ज्ञानविधाएँ या प्रस्थान हैं या ज्ञान की केवल दो पृथक् प्रणालियाँ मात्र हैं, और अन्त में हम यह भी जानने का प्रयत्न करेंगे कि इन दोनों को संयोजित करने वाली कोई मध्यवर्तिनी प्रक्रिया है या नहीं ? इन तीनों प्रश्नों को हम एक-एक कर लेना चाहेंगे।

हमारा अपना मत यह है कि शोध और समीक्षा-संबंधी प्रस्थान आंशिक रूप से ही भिन्न हैं। पर ये दोनों परंपराएँ अतिरंजित और अनावश्यक रूप से अपना अन्तर बढ़ाती चली गई हैं, जिसके कारण एक ओर साहित्यिक शोध का जीवंत पक्ष घटता गया है और दूसरी ओर समीक्षा में वैचारिक और तथ्यात्मक पक्षों की कमी होती गई है। हम दोनों को समीप न लाकर दोनों के अतिवादी छोरों का आग्रह करते रहे हैं, जिसके कारण शोध और समीक्षा दोनों को ही हानि पहुँची है। शोध और समीक्षा संबंधी परंपरागत धारणाओं में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। यदि शोध के स्वरूप को और भी यांत्रिक होने से बचाना है, तो उसमें समीक्षा का पुट अधिकाधिक जोड़ना होगा। आचार्य शुक्ल के समीक्षा ग्रंथों को शोधात्मक न मानकर हम शोध की सीमा संकुचित करते हैं। इसी प्रकार ब्रैडले, क्रोचे और काडवेल जैसे पाश्चात्य विद्वानों की जिन समीक्षा-कृतियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उन्हें शोधात्मक कृति मानने में भी हमें कोई असमंजस नहीं होना चाहिये। इस प्रकार जब हम शोध और समीक्षा की परम्पराओं को एक दूसरे में अन्तर्न्यस्त कर सकेंगे, तभी हमारा शोध कार्य नयी ज्ञान-दीप्ति से दीपित हो सकेगा और तभी हमारी समीक्षा में वस्तुमता और विश्लेषणात्मक पौरुष के तत्व समाहित हो सकेंगे।

Scanned with CamScanner

यदि हम ज्ञान की विकासात्मक भूमिका पर शोध और समीक्षा की दोनों विधाओं का समीकरण करना चाहें, तो कर सकते हैं। ज्ञान अखंड और अविभाज्य है। उसके नवोन्मेष जीवन की सभी भूमियों को प्रभावित और परिवर्तित करते हैं, वैसी स्थिति में शोध और समीक्षा की सरणियों का एक दूसरे से पृथक् हो जाना उपादेय नहीं कहा जा सकता। "शोध" और "समीक्षा" के बीच शब्दार्थ की दृष्टि से भी एक स्वतंत्र शब्द मिलता है, जिसे हम "अनुशीलन" कहते हैं। अनुशीलन में एक ओर शोध के तथ्य समाहित होते हैं, तो दूसरी ओर समीक्षात्मक विधियों और प्रकारों का भी समावेश होता है। अनुशीलन के इस स्तर पर शोध और समीक्षा की प्रणालियां एक दूसरे के समीप आकर सहयोग की भूमिका पर प्रतिष्ठित हो सकती हैं।

ऊपर जिस अनुशीलन शब्द के अन्तर्गत शोध और समीक्षा के समीप आने की संभावना प्रकट की गई है और इस शब्द में शोध और समीक्षा के दुहरे तत्वों का जो संगम बताया गया है, उसका कुछ व्यावहारिक स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। विशुद्ध शोध में साहित्य और कला के व्यावहारिक विवेचन की कमी तथा उनके तात्विक पक्षों की खोज का जो उल्लेख किया गया है और उस ऊँची भूमिका पर न पहुँच सकने के कारण आज के शोध-कार्य में वस्तु-संग्रह और वस्तु-संचय के जिन तथ्यों की प्रधानता होती जा रही है, उससे मुक्ति पाने और शोध की भूमिका को अधिक उर्वर बनाने के लिए ऐसे सम्मिश्रण की आवश्यकता है, जिसमें शोधात्मक और समीक्षात्मक तथ्य समाहित होकर एक दूसरे को पुष्ट और शक्तिमान बनाएँ। अक्सर शोधकर्त्ता तथ्य-निर्देशक होकर रह जाते हैं। वे वस्तु के साहित्यिक सौष्ठव और उसके अन्य प्रासंगिक पक्षों का उल्लेख नहीं करते। दूसरी ओर समीक्षाप्रधान प्रबंधों में सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक आधारों की कमी रहा करती है। इन दोनों को समाहित करने पर दोनों का उपकार होगा। परन्तु इससे भी बढ़कर लाभ यह होगा कि विश्वविद्यालयों में और अन्यत्र एक उच्चतर साहित्यिक चेतना का आविर्भाव और विकास हो सकेगा जिससे शोध और समीक्षा का न केवल मिलन होगा, बल्कि दोनों का युगपत् उत्थान भी हो सकेगा। एक नई वैचारिक दृष्टि का अभ्युत्थान होगा, जिससे ज्ञान और कला की भूमियां एक दूसरे के समीप आएँगी और दोनों के विवेचन के स्तर ऊँचे उठेंगे।

हिंदी के वर्तमान शोधकार्य पर यदि थोड़ी सी गंभीरता से विचार किया जाय, तो यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार का अधिकांश कार्य संग्रह-मूलक होता जा रहा है। जहाँ कहीं सैद्धान्तिक स्तर का विवेचन होता भी है, वहाँ उस स्तर का अद्यन्त निर्वाह नहीं हो पाता। विषय ही ऐसे दिये जाते हैं जिनमें सम्पूर्ण एकात्मता नहीं होती और शोधकर्त्ता को वैचारिक और सैद्धान्तिक गहराइयों में जाकर आद्यन्त अपने विषय का ऊहापोह करने का अवसर नहीं मिलता। विषयों के चयन में यह आवश्यक है कि अनुशीलन कर्त्ता को आरम्भ से अंत तक सच्चे अर्थों में एक 'थीसिस' या समग्र विचार प्रस्तुत करने का आधार प्राप्त हो। ऐसा न होने पर प्रकीर्णक और बहुधा असंबद्ध विचारों की भरमार हो जाती है।

अंतिम प्रश्न यह शेष रहता है कि शोध और समीक्षा के इस उपयोगी सम्मिलन के तथ्य का निर्देश करने के पश्चात् भी क्या हम इन दोनों का अंतर संपूर्ण रूप से मिटा सकेंगे और क्या इस प्रकार का विलीनीकरण आत्यन्तिक दृष्टि से संभव भी है? इस संबंध में हम यह अनुभव करते हैं कि शोध और अनुशीलन कार्य की विकसित स्थिति पर पहुँचने पर हमें फिर से इस प्रश्न पर

Scanned with CamScanner

विचार करना होगा और उस अवसर पर हम इस विषय में जिस किसी निष्कर्ष तक पहुँच सकेंगे, उसका आख्यान करेंगे। यह तो स्पष्ट ही है कि शोध और समीक्षा दो भिन्न अभ्यास और विषय हैं। दोनों की स्थितियाँ एकदम एकीकृत नहीं हो सकतीं। परन्तु वर्तमान समय में हिन्दी के शोध-कार्य के उन्नयन के लिये इन दोनों अभ्यासों का संयोजन और समीकरण आवश्यक प्रतीत होता है।

Scanned with CamScanner

अगरचन्द नाहटा

हिन्दी शोध की समस्याएँ

इधर कुछ वर्षों से हिन्दी में शोधकार्य बहुत जोरों से चल रहा है। और इसी के फलस्वरूप अनेक विषयों में शोध-प्रबन्ध लिखे जाकर बहुत से महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आये हैं। पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि शोध प्रबन्ध लेखकों की संख्या में जितनी वृद्धि हुई है उतनी शोध प्रबन्धों के स्तर में तरक्की नहीं हुई। इसलिए आवश्यक है कि हम इस समस्या पर गंभीरता से विचार करें कि किन कठिनाइयों और परिस्थितियों के कारण हम वांछित प्रगति नहीं कर पा रहे हैं।

प्राचीन साहित्य की खोज मेरे जीवन का प्रिय विषय रहा है। यद्यपि शिक्षा मेरी बहुत ही साधारण हुई है पर १८ वर्ष की उम्र में ही श्री मोहनलाल दलीचन्द देशाई का एक गुजराती निबंध 'कविवर समय सुन्दर' पढ़ने को मिला और तभी से मन में प्रेरणा हुई कि गुजरात का एक एडवोकेट अपने व्यस्त कार्यक्रम में से इतना समय निकालकर जैन साहित्य और साहित्यकारों संबंधी जानकारी प्रकाश में ला रहा है और 'कविवर समय सुन्दर' तो राजस्थान के महाकवि एवं विद्वान् हैं, उनके नाम से बीकानेर और जैसलमेर में उपाश्रय प्रसिद्ध हैं और उस कवि की परम्परा में आज भी यति--गण विद्यमान हैं। इन सब बातों की जानकारी न होने पर भी उन्होंने कविवर समय सुन्दर के संबंध में इतना विस्तृत और महत्वपूर्ण निबंध लिखा है तो अपना भी कर्त्तव्य है कि सामग्री व जानकारी के अभाव में उस निबन्ध में जो बातें नहीं लिखी जा सकीं, उन्हें खोज करके प्रकाश में लाया जाय। अपने गुरुवर्य कृपाचन्द्र सूरि जी तथा उनके शिष्यों से भी प्रेरणा मिलती रही तथा मैंने और मेरे भ्रातृपुत्र भंवरलाल ने केवल इसी महाकवि की जीवनी और उसके साहित्य की खोज का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

बीकानेर में हस्तलिखित प्रतियों के कई महत्वपूर्ण ज्ञानभण्डार हैं। सबसे पहला काम हमने यही आरम्भ किया कि उन भण्डारों में पहुँचकर हस्तलिखित प्रतियों को देखा। उस समय तक उन भण्डारों की सूची पुराने ढंग की बनी हुई थी, जिसमें केवल ग्रन्थ का नाम और पत्र-संख्या का ही विवरण रहता था। ग्रन्थकर्त्ता का नाम, सूची में दर्ज न होने पर उन भंडारों में समय सुन्दर जी की कौन सी ज्ञात, अज्ञात रचनायें हैं, इसका पता लगाना सम्भव न था। इसलिए मैंने स्वयं कई महीनों तक कठिन परिश्रम से उन ग्रन्थ-भण्डारों की विवरणात्मक सूची बनाई जिसमें ग्रन्थकार, रचनाकाल, रचनास्थान, लेखनस्थान, व प्रति के लिखने वाले का विवरण, और ग्रन्थ का परिमाण भी दिया गया। ऐसी सूची बनाने के लिए ज्ञानभण्डार की प्रत्येक प्रति को ध्यानपूर्वक देखना आवश्यक हो गया। कठिनाइयाँ भी आईं पर उत्साह और लगन के साथ इस कार्य को जारी रक्खा। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन भाषा और लिपि का अच्छा अभ्यास हो गया और प्राकृत, संस्कृत, राजस्थानी और हिन्दी-साहित्य

की जानकारी बढ़ती गई। समय सुन्दर जी की अज्ञात रचनाओं की उपलब्धि तो हुई ही पर साथ ही अनेक और कवियों और उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं की प्राप्ति ने हमारे शोधकार्य को व्यापक बना दिया। समय सुन्दर जी की तो कहीं एक भी पंक्ति हमें मिल गई तो हमने उसे तत्परता से संग्रहीत कर लिया। इस तरह अनेक स्थानों के ज्ञानभण्डारों की खोज के बाद कविवर की ५६३ लघु रचनाओं का वर्गीकृत संग्रह "समय सुन्दर कृति कुसुमांजलि" नामक पुस्तक में प्रकाशित किया गया। साथ ही और जितने अच्छे कवि हमारी जानकारी में आये उनकी रचनाओं का संग्रह भी करते गये। इस तरह करीब २०-२५ कवियों की तो सम्पूर्ण रचनायें सम्पादन करने का हमने प्रयत्न किया। "ज्ञानसार ग्रन्थावली", "धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली", "विनयचन्द्र कृत कुसुमांजलि", "जिनराजसूरि कृति कुसुमांजलि", "जिनहर्ष ग्रन्थावली" आदि ग्रन्थ हमारे उन्हीं दिनों के प्रयास हैं। साहित्य के साथ इतिहास और कला की ओर भी हमारा ध्यान गया। बीकानेर राज्य के समस्त जैन मंदिरों व मूर्तियों के लेखों का एक विशाल संग्रह तैयार किया गया और जैसलमेर के अप्रकाशित शिलालेख भी उसमें सम्मिलित कर लिये गये और उन सबको विस्तृत प्रस्तावना के साथ "बीकानेर जैन लेख संग्रह" में प्रकाशित किया जा चुका है। बीकानेर के जैन भण्डारों में कई अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक रचनायें भी मिलीं और उनका एक विशिष्ट संग्रह "ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह" के नाम से सन् १९३७ में प्रकाशित किया गया। ६०० पृष्ठों के इस ग्रन्थ में १२वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक की प्रत्येक शताब्दी की ऐतिहासिक प्रतियाँ संग्रहीत की गई हैं। चार ऐतिहासिक गुरुचरित्र भी लिखे व प्रकाशित किये गये।

अध्ययन और संग्रह में मेरी इतनी अधिक रुचि रही कि अन्य सब कार्यों से मेरा ध्यान हटता गया, और इसी के परिणामस्वरूप २० हजार हस्तलिखित प्रतियाँ, हजारों प्राचीन चित्र, सिक्के, कला और कारीगरी की चीजें अपने 'अभय जैन ग्रन्थालय' और 'नाहटा कला भवन' में संग्रहीत कर सका हूँ। मुद्रित ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं की संख्या भी २० हजार से अधिक ही होगी। लाखों हस्तलिखित प्रतियों को अनेकों हस्तलिखित ग्रन्थालयों में जाकर देखने का मौका मिला। २५-३० हजार ग्रन्थों को पढ़ने का मौका मिला। इस तरह अपने आप एक साधारण पढ़े लिखे व्यक्ति को इस शोध प्रवृत्ति ने कहाँ का कहाँ पहुँचा दिया।

पुराने जमाने में जब तक डाक्टरेट के लिए शोध प्रबन्ध लिखने की प्रणाली चालू नहीं हुई थी, भारत में गम्भीर अध्ययन, सम्यक आलोचना, विचारणा, और शोध का कार्य इसी ढंग से होता रहा है। उस समय की शोध जीवनव्यापिनी थी। आजकल के अधिकांश शोध-प्रबंध-लेखक, जिस प्रकार डाक्टरेट मिल जाने के बाद अपने को कृतकार्य मानते हुए निष्क्रिय से हो जाते हैं, वैसा प्राचीन और मध्यकालीन भारत में नहीं होता था। ज्ञान की उपासना जीवन भर और अखण्ड चलती रहती थी, इसीलिये उनकी साधना अधिक से अधिक फैलती फूलती थी। आज अधिकांश शोधप्रबन्ध-लेखक केवल डिग्री के लिए ही शोधकार्य करते हैं और जिस किसी प्रकार से डिग्री प्राप्त कर आर्थिक लाभ मिल जाने पर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। वास्तव में देखा जाय तो वे बहुत ही कच्चे रह जाते हैं। एक शोधप्रबन्ध का लिखना तो वास्तव में शोध की दिशा में अग्रसर होना है। उस विषय की पूरी जानकारी प्राप्त कर अधिकारी बन जाना तो बहुत दूर की बात है। उसके लिए तो सारे जीवन को खपाना होगा, शोध-कार्य को

Scanned with CamScanner

निरन्तर चालू रखना होगा। अब तक हम जो कुछ भी खोज पाये हैं या जान पाये हैं उससे बहुत अधिक सामग्री की जानकारी प्राप्त करना अपेक्षित है, यह मानते हुए सच्चा शोध-प्रेमी केवल डिग्री प्राप्त करके रुक नहीं जायेगा पर निरन्तर प्रगति करके अधिक से अधिक और गहरी अनुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। शोध उसके जीवन का ध्येय ही बन जाना चाहिये। वर्तमान युग में हिन्दी के क्षेत्र में जो शोध कार्य हो रहा है उसमें शोध छात्रों को ३-४ प्रकार की कठिनाई प्रतीत हो रही है। इधर कुछ वर्षों से ऐसे पचासों व्यक्ति मेरे सम्पर्क में आये हैं और उनकी कठिनाइयों का मैंने अनुभव किया है। यथासम्भव उन्हें सहायता पहुँचाने में भी अपनी ओर से कमी नहीं रखी है। सबसे पहली कठिनाई है—**विषय-निर्वाचन** की। वे कौनसा विषय लें, यह निर्णय करना उनके लिये बहुत ही कठिन होता है। बहुत से विषयों पर शोध कार्य हो चुका है। कुछ विषय ऐसे हैं जो उपयुक्त होते हुए भी निर्देशकों और विश्वविद्यालय की समिति द्वारा स्वीकृति पाते। कुछ विषयों से संबंधित सामग्री बहुत ही कठिन होती है।

दूसरी कठिनाई है—**योग्य निर्देशक की।** प्रायः देखा गया है कि विश्वविद्यालयों द्वारा जो निर्देशक स्वीकृत कर लिये गये हैं उनका अध्ययन सीमित होने और समय की कमी के कारण वे शोध छात्रों को उचित एवं आवश्यक निर्देशन नहीं दे पाते। माना कि प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान की एक सीमा है पर वे ऐसे विषयों के निर्देशक बनते ही क्यों हैं जिस विषय पर उनका स्वयं का कोई गम्भीर अध्ययन नहीं है। मेरे पास कई शोध छात्र व छात्रायें ऐसी ही आईं जिन्होंने अपने निर्देशकों द्वारा आवश्यक मार्गदर्शन प्राप्त न होने की शिकायत की। कई निर्देशक तो अपने कर्त्तव्य का कुछ भी पालन नहीं करते। सामग्री कहाँ से मिल सकेगी? कौन कौन से ग्रन्थ शोधार्थी को पढ़ने चाहिये? इसकी भी सूचना शोध-छात्र को उनसे नहीं मिल पाती। लगता है कि शोध-कार्य और शोध छात्र की प्रगति में उनकी विशेष रुचि ही नहीं है, केवल नाममात्र के लिए ही वे निर्देशक बने बैठे हैं। इससे कई शोध छात्रों और छात्राओं को बड़ी कठिनाई हुई व होती है। अन्त में मैंने उन्हें उचित मार्गदर्शन, सामग्री की जानकारी देकर और शोधकार्य में आनेवाली कठिनाइयों को दूर करके किसी तरह उनका काम निपटाया। निर्देशकों की कमी भी शोध कार्य की प्रगति में बहुत ही बाधक बन रही है। क्योंकि नियमानुसार एक निर्देशक के निरीक्षण में प्रायः ५ शोधार्थी ही काम कर सकते हैं। और आजकल एम० ए० कर लेने के बाद प्रत्येक व्यक्ति डाक्टरेट भी कर लेना आवश्यक समझता है। इसलिये शोधार्थियों की संख्या तो बहुत ही बढ़ गई है और निर्देशकों की संख्या बहुत ही कम है। विश्वविद्यालयों ने कई ऐसे नियम बना रखे हैं जिससे कई व्यक्ति जो निर्देशन की पूर्ण क्षमता रखते हैं, पर अमुक डिग्रियाँ पास न होने के कारण उन योग्य व्यक्तियों को भी निर्देशक के रूप में मान्य नहीं किया जाता और कई साधारण योग्यता वाले जिन्होंने केवल किसी तरह डाक्टरेट प्राप्त कर ली है, निर्देशक बन जाते हैं।

तीसरी कठिनाई है—**सामग्री प्राप्त करने की।** चूंकि प्राचीन साहित्य अधिकांश अप्रकाशित है और उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी किसी एक दो संग्रहालय में ही मिल जानी सम्भव नहीं। इसलिये उनको प्राप्त करने के लिए शोधार्थियों को लम्बी यात्रा व अर्थ व्यय करना जरूरी हो जाता है। प्रतियाँ अनेक स्थानों पर होने के कारण सभी जगह पहुँचना भी सम्भव नहीं होता। और उन प्रतियों के स्वामियों में भी सभी उदार व्यक्ति नहीं होते। इसलिये भी उनका उपयोग करना बहुत ही कठिन होता है। मुद्रित सभी ग्रन्थ, आवश्यक ग्रन्थ भी किसी एक

Scanned with CamScanner

ग्रन्थालय में मिलने कठिन होते हैं और बहुत से ग्रन्थ तो अप्राप्य हो जाते हैं जभी वहाँ पहुँचकर देखना पड़ता है इससे बहुत बार शोध-कार्य परेशान हो जाते हैं। तथा अपने शोधकार्य में उन ग्रंथों का महत्व जानते हुये भी उन ग्रंथों का उपयोग नहीं कर पाते। पुराने पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें भी बहुत थोड़े से ग्रन्थालयों में ही मिलती हैं। सभी शोधार्थियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती और कठोर श्रम करने वाले भी बहुत कम व्यक्ति होते हैं। इसलिए अब तक जो भी शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं उनमें सबसे अधिक संख्या आधुनिक कवियों एवं विषयों संबंधी है। क्योंकि उसमें न प्राचीन भाषा और लिपि का अध्ययन करना पड़ता है। न सामग्री को सम्पादित करने में लम्बी यात्रा, अर्थ-व्यय और कठिनाई पड़ती है। यह तो प्रायः सभी शोधार्थी चाहते हैं कि उनका विषय सरल से सरल हो और जल्दी से जल्दी और कम से कम मेहनत करके वे अपना शोधप्रबन्ध पूरा कर लें। ज्ञान की वृद्धि या तथ्यान्वेषी शोध अध्ययन उनका ध्येय ही नहीं होता।

मेरे उपर्युक्त विवेचन का आशय यह कदापि नहीं कि हिन्दी का शोधकार्य तेजी से व ठीक से नहीं चल रहा है तथा निर्देशक अधिकांश अयोग्य हैं, यह भी नहीं है और प्राचीन कवियों और साहित्य के सम्बन्ध में शोधकार्य नहीं हो रहा है, यह बात भी नहीं है। मैं तो मानता हूँ कि अभी तक भारत में तो सबसे अधिक शोध प्रबन्ध हिन्दी में ही लिखे गये हैं। और शोध के प्रति आकर्षण दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। यह हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। कई शोध प्रबन्ध तो वास्तव में ही उच्चकोटि के हैं। पर जो कमियाँ हैं उनको भी हमें ध्यान में रखना है। बहुत से शोध प्रबन्ध जिन पर डाक्टरेट मिल चुकी है वे वास्तव में इसके योग्य थे, यह कोई तटस्थ व्यक्ति नहीं कह सकेगा। उनका स्तर बहुत ही साधारण है। और कइयों में तो इतनी भूल-भ्रान्तियाँ हैं कि उनका संशोधन करना भी एक नया शोध-कार्य हो जायगा। यह भी मानना पड़ेगा कि निर्देशक, शोधार्थियों को जितने और जो-जो विषय दे देते हैं, उन विषयों संबंधी उनकी जानकारी भी उतनी नहीं होती। इसलिये वे आवश्यक निर्देशन नहीं कर पाते। और बेचारे आश्रय में आये हुए शोधार्थियों को बहुत ही परेशानी और निराशा का सामना करना पड़ता है। इसलिए जरूरी है कि निर्देशक अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक हों, या तो वे जो भी विषय सामने आया उसी का निर्देशन करने का खतरा मोल न लें, यदि लेते हैं तो उन्हें समय और श्रम देकर उस विषय का निर्देशन कर सकने की योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। अपने आश्रय में आये हुए व्यक्ति की कठिनाइयों को हल करना भी उनका कर्त्तव्य है। उनके विषय की सामग्री क्या क्या है? और कहाँ से मिल सकेगी, इतनी सूचना तो शोधार्थियों को उनसे अवश्य मिलनी चाहिये।

सामग्री प्राप्त करने की जो कठिनाई है, उसे कुछ अंशों में विश्वविद्यालय हल कर सकते हैं। वे जहाँ से सामग्री प्राप्त हो सकती हो, अपनी जिम्मेवारी पर मंगाने का प्रयत्न करें। जो खरीदी जा सकती हो, खरीद कर लें। जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त न हो सकें, उनकी फोटोस्टेट कॉपी करवा कर मंगवाने का प्रयत्न करें। जिससे शोधार्थियों की कठिनाई कम हो और वे कार्य ठीक से कर सकें।

एक निवेदन शोध प्रबन्धों के परीक्षकों से भी है कि वे जरा सख्ती व दृढ़ता से काम लें। ध्यान से शोध प्रबन्ध को पढ़कर जो भी त्रुटियाँ-कमियाँ नजर आवें उनको पूरा करवाये या ठीक करवाये बिना डाक्टरेट देने की सिफारिश न करें। इसके लिये यदि शोध प्रबन्ध दुबारा लिखना पड़े तो उसके लिए भी समय और सुझाव दें, पर शोध का स्तर नीचा न होने दें। इसके

Scanned with CamScanner

सम्बन्ध में किसी की सिफारिश या लिहाज को स्थान नहीं मिलना चाहिये। अयोग्य व्यक्तियों को तो 'डाक्टरेट' मिल जाना सारे शोध कार्य के स्तर को क्षति पहुँचाना है।

अन्तिम समस्या है—**शोध प्रबन्धों के प्रकाशन की।** प्रतिवर्ष कई विश्वविद्यालयों द्वारा शताधिक शोध प्रबन्ध स्वीकृत होते हैं पर उनमें से प्रकाशित बहुत ही कम हो पाते हैं, और जो प्रकाशित होते हैं उनका मूल्य प्रकाशकगण इतना अधिक रखते हैं कि सरकारी लायब्रेरियों के अतिरिक्त संस्था द्वारा उनका खरीदना प्रायः सम्भव नहीं हो पाता। इसलिये उसे शोध का जो सुफल अधिकाधिक व्यक्तियों को मिलना चाहिये था, वह लाभ इने-गिने व्यक्तियों को ही मिल पाता है। कई विश्वविद्यालय शोध प्रबन्धों के प्रकाशन में कुछ आर्थिक सहयोग भी देते हैं पर वे भी प्रकाशन के मनमाने मूल्य रखने पर प्रतिबन्ध नहीं लगाते, यह ठीक नहीं। मेरे ख्याल से विश्वविद्यालयों के लाखों-करोड़ों के खर्च में कुछ 'मद' शोध-प्रबन्धों के प्रकाशनों के लिये भी रखी जाय। जो उच्च-स्तर के शोध-प्रबन्ध हों उन्हें तो विश्वविद्यालय ही प्रकाशित करें और सस्ते मूल्य में उनका प्रचार हो, ताकि अधिक व्यक्ति उससे लाभ उठा सकें। विश्वविद्यालयों, निर्देशकों को इसकी जानकारी भी बराबर मिलती रहनी चाहिये कि अभी तक किन किन विषयों में कहाँ कहाँ किसने काम किया है व कर रहे हैं, ताकि एक ही विषय की पुनरावृत्ति न हो।

Scanned with CamScanner